Preface

प्रस्तावना

प्रस्तावना

मोहन राकेश स्वातंत्र्योत्तर भारत के एक महत्वपूर्ण नाटककार और जागरूक संस्कृतिकर्मी थे। उनकी प्रासंगिकता दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है क्योंकि अपनी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने हिन्दी नाटक और रंगमंच को एक समर्थ एवं महत्वपूर्ण कला माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित किया। हिन्दी रंग-परिदृश्य पर मोहन राकेश का आगमन उस समय हुआ जब स्वाधीनता के बाद पाँचवें दशक में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की लहर पूरे देश और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को आंदोलित कर रही थी। राकेश से पूर्व हिन्दी नाट्य परिदृश्य में पर्याप्त सक्रियता एवं जागरूकता विद्यमान थी, लेकिन इसके बावजूद हिन्दी रंगकर्म को एक गंभीर एवं रचनात्मक क्रिया-कलाप के रूप में व्यापक प्रतिष्ठा नहीं मिल पाई थी। हिन्दी नाटक और रंगमंच के इस महत्वपूर्ण मोड़ पर मोहन राकेश के नाटक कई स्तरों पर बहुत बड़े परिवर्तन एवं नए दिशा संकेत लेकर आते हैं। उनके नाटकों ने हिन्दी रंगकर्म को एक समर्थ एवं महत्वपूर्ण कला माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने तथा अपनी बहुसंख्यक एवं विविधतापूर्ण प्रस्तुतियों द्वारा उसे दो-चार महानगरों के सीमित दायरे से आगे बढ़ाकर छोटे-बड़े शहरों एवं कस्बों तक फैलाने में निर्णायक भूमिका का निर्वाह किया है। उनके नाटकों ने न सिर्फ हिन्दी नाटकों की संवेदना और रूपबंध में आमूल परिवर्तन के संकेत दिए, बल्कि हिन्दी रंगमंच की दिशा को पूरी तरह बदल दिया। लेकिन हिन्दी रंगकर्म में मोहन राकेश के इस ऐतिहासिक एवं बहुआयामी योगदान पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया गया।

इस स्थिति के मुख्यतः दो कारण हैं - पहला अकादमिक एवं सामाजिक स्तर पर रंगकर्म के संबंध में पर्याप्त जागरूकता एवं सक्रियता का अभाव तथा दूसरा इस विषय के अध्ययन की व्यावहारिक सीमाएँ एवं समस्याएँ। हिन्दी-प्रदेशों में रंग-परंपरा और रंग-संस्कार के अभाव के कारण रंगकर्म को गंभीर एवं रचनात्मक कला-माध्यम मानने की बजाय केवल मनोरंजन का एक उपकरण स्वीकार करके इसे शिक्षित एवं सुसंस्कृत नगर-समाज से बाहर कर दिया गया। इसी मनोवृति ने हिन्दी नाट्यालोचन, अनुसंधान एवं अध्यापन के स्तर पर नाटक को 'पठ्य' एवं 'मंचीय' जैसे भ्रामक वर्गों में बाँट दिया जिसके कारण रंगमंच समन्वित संश्लिष्ट अध्ययन विश्लेषण का हिन्दी नाट्यालोचन एवं शोधकार्य में प्रायः अभाव सा ही रहा। इसी कारण विश्व की अन्य भाषाओं में जहाँ कालजयी नाटककारों की प्रस्तुतियों और उनके रंगशिल्प पर अत्यंत गंभीर शोध एवं समीक्षा कार्य उपलब्ध है, वहीं हिन्दी नाट्यालोचन में इस तरह के प्रयास प्रायः कम ही हैं। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में इस स्थिति में परिवर्तन आया है और एक नई रंग-चेतना के प्रसार के फलस्वरूप हिन्दी रंगमंच का एक दर्शक वर्ग तैयार हुआ है। कुछ विश्वविद्यालयों में स्वतंत्र नाटक एवं रंगमंच विभागों की स्थापना भी हुई है, जहाँ हिन्दी एवं अन्य भाषाओं के महत्वपूर्ण नाटकों के उल्लेखनीय प्रदर्शन भी किए गए हैं। लेकिन जब तक रंगमंच को एक

व्यापक जन-स्वीकृति एवं सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं मिल जाती तब तक न तो समृद्ध व्यावसायिक रंगमंच की संभावना है और न ही रंगकर्म के व्यावहारिक पक्षों पर किसी मौलिक अध्ययन अथवा गंभीर अनुसंधान की। यहाँ एक बात पर गौर करना जरूरी है कि दूरदर्शन के सीरियलों ने भी रंगमंच एवं थिएटर को अप्रत्यक्ष रूप से क्षति पहुँचाई है। यह लोकप्रिय सोप ऑपेरा या प्राईम टाइम सीरियल जनता पर अफीम के नशे का सा असर करते हैं और उनकी रुचि का परिसंस्कार न कर उन्हें इस प्रकार की आदत डाल देते हैं कि दर्शकों को एक अजीब सा चस्का लग जाता है।

दूसरी समस्या नाटक और रंगमंच के संबंध में प्रामाणिक इतिहास, डॉक्यूमेन्टेशन और प्रदर्शन संबंधी जानकारी की है। अन्य कला माध्यमों की अपेक्षा क्षणजीवी होने के कारण विदेशों में माइक्रोफिल्म और टेप का सहारा लेने के साथ-साथ ऐसे नाट्यसंग्राहालय भी बनाए गए हैं, जहाँ नाट्य-आलेख [Production script] मंच सज्जा के विविध प्लान और मॉडल तथा प्रदर्शन संबंधी सभी प्रकार के प्रामाणिक तथ्यों के संग्रह के अलावा अभिनेताओं द्वारा प्रयुक्त वस्त्राभूषणों एवं मंच उपकरणों को भी सांस्कृतिक धरोहर के रूप में सुरक्षित रखा गया है। इसके विपरीत हिन्दी रंगमंच की स्थिति निराशाजनक ही कही जा सकती है।

नाटक एवं रंगमंच के प्रति लगाव होने के कारण इस विषय पर शोध-कार्य करने की इच्छा हुई। इस स्थिति को तब और बल मिला जब 1992 में दिल्ली विश्वविद्यालय दक्षिणी परिसर के तत्वावधान में अभिमंचित होने वाले राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' का मैंने निर्देशन किया। अपने साथी कलाकारों के साथ काम करते हुए एहसास हुआ कि राकेश के नाटकों का हर नया प्रदर्शन उसे एक नया अर्थ-संदर्भ प्रदान करता है। राकेश के नाटकों की यह बहुविध अर्थछाया एक विशेष सम्मोहन की सृष्टि करती है जिसके कारण स्वाधीन भारत के प्रायः सभी प्रतिष्ठित निर्देशक एवं अभिनेताओं ने उन्हें प्रदर्शित करना चाहा है। उनके नाटकों की प्रासंगिकता दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही है क्योंकि अपनी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने जिन प्रश्नों को उठाया है वे आज भी हमारे समय और समाज को आंदोलित कर रहे हैं। आर्थिक दबाव के कारण उत्पन्न पारिवारिक विघटन, स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में मौजूद सांस्कृतिक विघटन, लगातार कमजोर होते जा रहे संबंध-विधान, प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पूर्णता की तलाश लेकिन अधूरा और अपूर्ण रह जाने की अनिवार्य मानवीय नियति, कलाकार और राजसत्ता, रचनाकार और परिवेश जैसे मुद्दे आज भी हमारे लिए गहरी अर्थवत्ता रखते हैं क्योंकि यह समकालीन जीवन और समाज के ज्वलंत विषय हैं। राकेश के नाटकों की यह समसामयिकता उन्हें हमेशा प्रासंगिक बनाए रखती है तथा कालजयी रचना का गौरव प्रदान करती है। अतः समय के निकष पर मोहन राकेश के नाटकों का विश्लेषण एक महत्वपूर्ण और रोचक विषय है एवं यही इस शोध प्रबन्ध का मूल आधार रहा है। दरअसल यथार्थवादी अन्तर्वस्तु एवं यथार्थवादी रंगशिल्प मोहन राकेश के नाटकों की बुनियादी विशेषताएँ हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध को अध्ययन और लेखन की सुविधा के लिए सात अध्यायों में विभक्त किया गया है :

प्रथम अध्याय विषय-प्रवेश का है, जिसमें शोध-प्रबंध की पृष्ठभूमि को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय में नाटक के स्वरूप पर संक्षिप्त रूप से विचार करने के साथ-साथ हिन्दी नाटक और रंगमंच के विकास पर विस्तार से विचार किया गया है। प्रत्यक्ष अनुभूति एवं सीधे साक्षात्कार के रोमांचक अनुभव से युक्त होने तथा मानव जीवन एवं परिवेश से समन्वित होने के कारण नाटक साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक जटिल और संश्लिष्ट-विधा रही है। यद्यपि हिन्दी नाटक के विकास की एक लंबी प्रक्रिया रही है, जिसमें विकास के विभिन्न चरण दिखाई पड़ते हैं लेकिन भारतेन्दु से पूर्व का नाट्य साहित्य न तो किसी सार्थक मानवीय अनुभव को व्यक्त कर पाता है और न ही उसमें नाट्यकला का सृजनात्मक उन्मेष दिखाई पड़ता है। भारतेन्दु ने पहली बार न केवल नाटक को युगीन समस्याओं, जन-जागरण एवं मनुष्य की संवेदना से जोड़ा, बल्कि नाटक एवं रंगमंच के पारस्परिक संबंध को समझते हुए नाट्य-रचना की और इस तरह रंगकर्म के नए प्रतिमान स्थापित किए। भारतेन्दु द्वारा प्रारंभ की गई हिन्दी नाटक एवं रंगमंच की यह परंपरा जयशंकर प्रसाद, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचंद्र माथुर, धर्मवीर भारती तथा मोहन राकेश आदि समर्थ एवं प्रतिभावान नाटककारों द्वारा वयस्कता प्राप्त करती है। इस प्रकार छठवें दशक के प्रारंभ होने तक हिन्दी नाटक एवं रंगमंच हिन्दी भाषी क्षेत्र की समर्थ अभिव्यक्ति के रूप में ही नहीं, बल्कि संपूर्ण भारतीय नाटक की परंपरा में अपने आप को प्रतिष्ठित करने में सफल हो पाता है। हिन्दी नाटक और रंगमंच के विकास की चर्चा के अलावा इस अध्याय में हिन्दी नाट्य-परंपरा में राकेश के नाटकों के महत्व तथा मोहन राकेश के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का भी संक्षिप्त उल्लेख किया गया है।

द्वितीय अध्याय में समय के निकष पर राकेश के नाटकों को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। समकालीन जीवनानुभव के कई आयाम उनके नाटकों में उद्‌घाटित हुए हैं, जो इन नाटकों को प्रासंगिक बनाए रखते हैं। पारिवारिक एवं सांस्कृतिक विघटन की प्रक्रिया, आर्थिक स्थिति का संबंधों पर पड़ने वाला प्रभाव, व्यक्ति द्वारा संपूर्णता की खोज लेकिन अपूर्ण रह जाने की मानवीय नियति, कला और प्रेम, सृजनशील व्यक्ति और परिवेश, कलाकार और राजसत्ता जैसे ज्वलंत और प्रासंगिक विषयों पर राकेश ने गहराई से विचार किया है। मोहन राकेश के नाटकों में अभिव्यक्त इन सभी मुद्दों पर नाटककार के विचारों एवं मान्यताओं को इस अध्याय के अन्तर्गत स्पष्ट किया गया है।

इसी अध्याय में 'शाश्वत बनाम तात्कालिक' के प्रश्न को मोहन राकेश के नाटकों के संदर्भ में विश्लेषित करते हुए यह स्थापित करने का प्रयास किया गया है कि उनके नाटक अपने 'समय' से जुड़े होते हुए भी महज़ समयबद्ध और स्थितिबद्ध रचनाएँ नहीं है, बल्कि वे विविध मानव स्थितियों को उजागर करते हुए 'समय' के

पार देखने का भी साहस करती हैं। कोई भी रचना 'कालजीवी' हुए बिना 'कालजयी' नहीं हो सकती। इसी अर्थ में राकेश के नाटक अपने समय और समाज से जुड़े होकर ही - 'कालजयी' रचना का गौरव प्राप्त करते हैं क्योंकि ये नाटक 'समय' को स्थिर रूप में नहीं, बल्कि उसे गतिशीलता में पकड़ने का प्रयास करते हैं। मोहन राकेश के नाटकों पर अस्तित्ववाद के प्रभाव को भी इस अध्याय के अन्तर्गत रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

राकेश हिन्दी साहित्य के उन बिरले रचनाकारों में से हैं जिन्होंने हिन्दी रंगमंच के स्वस्थ विकास के लिए मौलिक रंगदृष्टि की तलाश पर जोर दिया । उनके अनुसार हिन्दी रंगमंच का विकास तकनीक प्रधान पाश्चात्य रंगमंच के अनुकरण से नहीं बल्कि नाटकीय प्रयोगों के द्वारा तथा समर्थ अभिनेताओं तथा निर्देशकों के हाथों होगा। यह तभी संभव होगा जब हिन्दी रंगमंच हिन्दी भाषी प्रदेश की सांस्कृतिक अस्मिता और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते हुए इस प्रदेश के विशाल जनसमुदाय के संवेदों और स्पंदनों को अभिव्यक्त करने में सफल होगा। तृतीय अध्याय के अन्तर्गत मोहन राकेश की इसी अभिनव रंगदृष्टि के विभिन्न आयामों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस रंगदृष्टि का पहला आयाम है : नाटक और रंगमंच के अन्योन्याश्रित संबंध की पहचान तथा नाटककार और रंगकर्मी के अपरिहार्य पारस्परिक सहयोग की स्वीकृति।

राकेश की रंगदृष्टि का सबसे महत्वपूर्ण आयाम एक नई नाट्यभाषा की तलाश था जो रंगानुकूल होने के साथ-साथ समसामयिक जीवन की संश्लिष्टता को भी प्रामाणिक रूप से व्यक्त कर सके। इसी अध्याय में राकेश की संवाद-योजना और पात्र-योजना पर भी विचार किया गया है तथा नाटककार द्वारा प्रयुक्त विविध नाटकीय युक्तियों के प्रयोग यथा बिम्बात्मकता प्रतीकात्मकता, विसदृशता, मौन, अन्तराल, विराम-चिन्हों एवं प्रश्न-चिन्हों पर भी चर्चा की गई है। अंत में राकेश के रंगशिल्प की सामर्थ्य एवं सीमा का समग्र आकलन करते हुए हिन्दी नाटक और रंगमंच के इतिहास में उनकी रंगदृष्टि के योगदान को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

मोहन राकेश के सभी नाटकों की केन्द्रीय धुरी स्त्री है। उनके नाटकों की विषय-वस्तु पुरूष पात्रों से जुड़ी हुई है, पर हर नाटक का केन्द्रीय चरित्र स्त्री बन जाती है, चाहे वह कालिदास-मल्लिका हों, नंद-सुन्दरी हों या महेन्द्रनाथ-सावित्री। अतः शोध प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय को 'स्त्री विमर्श' नाम दिया गया है, जिसमें मुख्यतः राकेश के नाटकों में अभिव्यक्त स्त्री - अस्मिता के विविध आयाम एवं स्त्री-पुरूष सम्बन्धों का विवेचन किया गया है। पृष्ठभूमि के रूप में उन कारणों और परिस्थितियों का भी विश्लेषण किया गया है जिसके चलते स्वातंत्र्योत्तर भारत में एक 'स्वाधीन स्त्री' का आविर्भाव संभव हो पाता है। इसी अध्याय में राकेश के नारी पात्रों में परंपरा और आधुनिकता के विविध रूपों तथा संबंधों के दायरे में घूमती हुई स्त्री के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डाला गया है।

राकेश एक रंग-चेता कलाकार थे और रंगमंच के साथ उनका प्रत्यक्ष, गहरा एवं जीवंत संबंध था। उनकी मान्यता थी कि एक कृति के रूप में नाटक तभी सफलता प्राप्त कर सकता है जबकि उसमें रंगमंच पर अभिनीत होने की संभावनाएँ निहित हों। लिखा गया नाटक तो मात्र हड्डियों के ढाँचे की तरह है जिसमें रंगमंच का वातावरण ही मांसलता प्रदान करता है। पंचम अध्याय में राकेश के नाटकों के प्रमुख प्रस्तुतीकरणों एवं निर्देशकों के मन्तव्य का उल्लेख करने के साथ-साथ इन प्रदर्शनों का समीक्षात्मक विश्लेषण करने का भी प्रयास किया गया है।

हिन्दी नाट्यालोचन एवं अनुसंधान में मोहन राकेश के संपूर्ण नाटकों - 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' तथा 'आधे-अधूरे' का ही मुख्य रूप से उल्लेख किया जाता रहा है। उनके अंतिम अपूर्ण नाटक 'पैर तले की ज़मीन' की भी प्रसंगवश थोड़ी बहुत चर्चा मिल जाती है, लेकिन उनके बीज-नाटक, ध्वनि-नाटक तथा एकांकी इस दृष्टि में उपेक्षित ही रहे हैं, जबकि ये रचनाएँ भी राकेश के बहुस्तरीय लेखन के समर्थ उदाहरण हैं। अतः छठे अध्याय के अन्तर्गत इन रचनाओं के कथ्य एवं रंगशिल्प को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

अंतिम अध्याय 'उपसंहार' का है, जिसमें समग्र शोध-प्रबंध की मूल मान्यताओं को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। शोध-प्रबंध के अन्त में परिशिष्ट के अन्तर्गत आधार ग्रंथों, संदर्भ-ग्रंथों तथा पत्र-पत्रिकाओं की सूची अकारादि क्रम से प्रस्तुत की गई है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध प्रोफेसर पारूकांत देसाई के निर्देशन में संपन्न किया गया। उनके प्रति औपचारिक कृतज्ञता ज्ञापन कर उऋण नहीं हुआ जा सकता। उनका स्नेह और मार्गदर्शन इस शोध-प्रबन्ध में व्याप्त है। विभागाध्यक्ष डॉ. अनुराधा दलाल की भी आभारी हूँ जिन्होंने इस विषय पर शोध-कार्य जमा करने की अनुमति दी। विभाग के अन्य सभी वरिष्ठ प्राध्यापकों का आभार भी मैं अवश्य प्रकट करना चाहती हूँ चूँकि बड़ों के आशीर्वाद व सहयोग के बिना न तो सफलता प्राप्त होती है और न ही संतुष्टि मिलती है। अपने माता-पिता एवं नानी-नाना को धन्यवाद देकर मैं उनकी महत्ता को छोटा नहीं करना चाहती। उनकी प्रेरणा के बिना कुछ भी अर्जित कर पाना असंभव था। मेरे पिताजी ने इस शोध-प्रबंध से संबंधित महत्वपूर्ण पुस्तकें एवं पत्र-पत्रिकाएँ जुटाने में बहुत मदद की है अन्यथा शायद सामग्री एवं जानकारी के अभाव में यह कार्य अधूरा ही रह जाता। मेरी भाभी, भाई सुमन्त, श्री आलोक शाह एवं सोनल ने भी यथासंभव सहयोग दिया है, अतः मैं उन सभी को धन्यवाद देना चाहती हूँ। अपनी प्यारी बेटियों ईशा एवं अनुश्री ने मुझे इतना समय दिया कि मैं अपना कार्य कर पाऊँ, अतः उनके मौन सहयोग के प्रति नतमस्तक हूँ। अपने जीवन-साथी डॉ. अभय कुमार ठाकुर का भी आभार प्रकट करना चाहती हूँ जिनके बिना यह शोध-कार्य पूरा नहीं हो सकता था। उन्होंने एक दोस्त एवं मार्गदर्शक की तरह मेरा साथ दिया है एवं जब कभी मैं हारकर बैठ जाती तब सदा उन्होंने ही मेरा हौसला बढ़ाया है। अंत में मैं श्री सत्येन्द्र तनेजा, श्री दीपक पंड्या, श्री धमलभाई, डॉ. एस.पी. शर्मा

एवं श्रीमती प्रतिमा कलोला को भी धन्यवाद देना चाहती हूँ जिनसे समय-समय पर बहुमूल्य परामर्श एवं सहयोग मिलता रहा है। 'नटरंग' प्रतिष्ठान का भी आभार प्रकट करती हूँ जहाँ से बहुत सी दुर्लभ पत्र-पत्रिकाएँ प्राप्त हुईं।

- शोधार्थी

आभा गुप्ता ठाकुर